(1936-2009)

ध्यान पत्रिका

संस्थापक : डॉ० शम्भू नाथ
M.Sc., Ph.D.

वर्ष-23 फरवरी-2013 अंक-2

'तिलक की परम्परा'

मस्तक, शरीर का महत्वूपर्ण अंग है। हृदय के पास की सुषुम्ना नाड़ी मस्तिष्क के चिंतन क्षेत्र में पहुंचती है। जिसके मस्तिष्क और हृदय एक रस हैं; उस का व्यवहार भी उचित रहेगा। (डॉ० जय नारायण कौशिक)

प्रकाशक

ध्यान सत्संग सभा

हिसार (हरियाणा), मो. : 09416164702, 09416041346

आत्मा ही : विश्व की व्याप्ति का कारण

प्रकाशो मे निजं रूप नातिरिक्तौऽस्म्यहं ततः।
यदा प्रकाशते विश्वं तदाऽहंभस एवं हि॥

प्रकाश मेरा अपना स्वरूप है। मैं उससे पृथक् नहीं हूं। जब विश्व प्रकाशित होता है, तब वह मेरे ही प्रकाश से प्रकाशित होता है। (अष्टावक्र गीता 2.8)

यह संसार आत्मा से उत्पन्न हुआ है। इसलिए आत्मा से ही व्याप्त है। उस से भिन्न नहीं हो सकता।

आत्मा ही विश्व की व्याप्ति का कारण है। इस में जो भिन्नता की प्रतीति होती है, वह तभी तक होती है: जब तक आत्म ज्ञान नहीं होता। आत्म ज्ञान होने पर विश्व में आत्मदर्शन ही होते हैं। प्रत्येक प्राणी आत्मा या परमात्मा प्रतीत होता है।

आत्मा स्वयं प्रकाश है। प्रकाश उसका स्वाभाविक धर्म है। इसलिए आत्मा प्रकाश से भिन्न नहीं। और वह प्रकाश भी अद्वितीय है। उसका कहीं जोड़ नहीं हो; तो यह आसमान विश्व भी अभासित ही रह जाय। जब परमात्मा अपने प्रकाश को समेटता है: तभी संसार प्रलयावस्था में लीन हो जाता है।

प्रकाश का अर्थ ज्ञान है। प्रकाश और ध्वनि में समानता है।
ज्ञान के दो रूप सूक्ष्म और स्थूल हैं।
सूक्ष्म में मौन है, नि:शब्दता है।
स्थूल में ध्वनि है।

संसार की उत्पति आत्मा से हुई है। और अन्त में उस का लय भी आत्मा में ही होगा। इस प्रकार संसार का कारण आत्मा ही है। वही अपने में समेट लेता है; संसार को।

आत्मा के स्वरूप के प्रकाश करके ही; जगत भी प्रकाश मान हो रहा है। स्वतः जगत् मिथ्या है। (2.8)

अज्ञान करके मेरे स्व:प्रकाश आत्मा में, असत् जगत् प्रतीत हो रहा है। यह बड़ा भारी आश्चर्य है। (2.9) ❑

निःस्वार्थ जीवन हीःसच्चा कर्म योग

-स्वामी श्री विवेकानन्द

जीवन में कुछ पाने के लिए, निरंतर कर्म का महत्व समझना जरूरी है। कर्म की शक्ति सब में प्रबल होती है। मनुष्य संसार की समस्त शक्तियों को अपनी ओर खींचता है तथा इस केन्द्र में सब को एकत्र करके, उन्हें फिर एक बड़ी तरंग के रूप में बाहर भेजता है। यह केन्द्र ही वास्तविक मानव है। सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ; और यह समस्त विश्व को अपनी ओर खींच रहा है। शुभ-अशुभ, सुख-दु:ख; सब उसकी ओर दौड़े जा रहे हैं। मनुष्य ही इन आने वाली चीजों से प्रवृति की उस धारा को बनाता है; जिसे चरित्र कहते हैं। मनुष्य में जिस प्रकार किसी चीज या विचार को अपनी ओर खींच लेने की शक्ति है; उसी प्रकार बाहर भेजने की भी शक्ति है।

संसार के कार्यकलाप, गति, चारों ओर जो कुछ भी हो रहा है; वह सब मन की अभिव्यक्ति ही तो है। मनुष्य की इच्छा शक्ति का ही प्रकाश है। यह इच्छा शक्ति उसके चरित्र से उत्पन्न होती है; और वह चरित्र, कर्मों से गठित होता है। अत: जैसा कर्म होता हैः इच्छा शक्ति की अभिव्यक्ति भी वैसी ही होती है।

संसार में प्रबल इच्छा शक्ति सम्पन्न, जितने भी महापुरुष हुए

हैं; वे सभी सत्कर्मों को समर्पित थे। उनकी इच्छा शक्ति इतनी ताकतवर थी कि वे संसार को भी उलट-पुल्ट कर सकते थे। और यह शक्ति; उन्हें युग-युगान्तर तक निरन्तर कर्म करते रहने से प्राप्त हुई थी।

बुद्ध या ईसा मसीह जैसी प्रबल इचछा शक्ति; एक जन्म में तो प्राप्त नहीं की जा सकती। वे लोग संसार में जिस महासंकल्प का संचार कर गएः वह कहां से आया? इतनी शक्ति का संचय कैसे हुआ?

यह सब कर्म द्वारा ही निर्धारित होता है। यह सनातन नियम है, कि जब तक कोई मनुष्य किसी वस्तु का उपार्जन न करेः तब तक वह उसे प्राप्त नहीं हो सकती। हम जिस का उपार्जन करते हैं; वही हमारा होता है।

हम किस के अधिकारी हैं?
हम अपने भीतर क्या ग्रहण कर सकते हैं?

इस सब का निर्णय कर्म द्वारा ही होता है। यदि हमारी वर्तमान अवस्था पूर्व कर्मों का फल है; तो यह निश्चित हैः कि जो कुछ हम भविष्य में होना चाहते हैं; वह हमारे वर्तमान कर्मों द्वारा ही निधारित किया जा सकता है।

कर्म योग का अर्थ है-कुशलता अथवा वैज्ञानिक प्रणाली से कर्म करना।

कर्मानुष्ठान की विधि का ठीक पालन करने से; मनुष्य को श्रेष्ठतम फल प्राप्त होता है। कुछ बिना प्रेरणा या हेतु कर्म करते हैं, कुछ पैसे के लिए काम करते हैं। कुछ अधिकार प्राप्त करने के

लिए कर्म करते है; और कुछ कल्याण के लिए कर्म करते हैं। फिर भी हमें यह देखना होगा कि :

जो भी कार्य हमारे सामने आए: उन्हें हम हाथ में लें; और शनः शनः हम अपने को निःस्वार्थ बनाते चले जाएं। यही सच्चा कर्म योग है। ❑

(1936-2009)

सृष्टि
(Universe)

✍ डॉ० शम्भू नाथ

हमारे शास्त्र कहते हैं: कि सृष्टि की सबसे बड़ी शक्ति ब्रह्म है। इसी शक्ति से पूरे द्वैत जगत की उत्पत्ति हुई। मात्र उत्पत्ति ही नहीं; इस सृष्टि को चलाने वाला भी वही ब्रह्म है। मन में प्रश्न उठता है कि: निर्गुण निराकार ब्रह्म, सगुण साकार की उत्पत्ति कैसे कर सकता है? और यह ब्रह्म इतनी बड़ी सृष्टि को चलाता कैसे है?

प्रकृति की रचना की सबसे खास बात यह है: कि प्रकृति द्वारा रची हुई हर रचना समुद्र रूपी है। अत: भावातीत क्षेत्र (Transcendental Field) भी समुद्र रूपी है। और यह क्षेत्र निर्गुण-निराकार ब्रह्मतत्व का समुद्र है। इस समुद्र में भी हर ब्रह्मतत्व की स्थिति अलग-अलग होगी। मात्र इस स्थिति के कारण एक Potential Energy की उत्पत्ति होगी और इस Potential Energy के कारण ब्रह्म तत्व के समुद्र में स्वत: एक कम्पन पैदा हो जाएगी। यह कम्पन गुणवान होगी। इस कम्पन में हमेशा ही आगे बढ़ने का

गुण होगा। इस तरह से अद्वैत से द्वैत का जन्म अपने आप हो जाएगा।

भावातीत क्षेत्र : भावों के क्षेत्र से सूक्ष्म है

ऊपर का सिद्धांत बताता है कि यह क्षेत्र, निर्गुण-निराकार ब्रह्मतत्व का समुद्र ही, द्वैत की उत्पत्ति करेगा। इस तरह से बुद्धि से परे भावों के क्षेत्र की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मतत्व के लहरों की, मात्र अग्रसर होने का गुण ही : एक के बाद एक, स्थूल पर्तों की उत्पत्ति करता ही जाएगा। इस तरह से उत्थान के सिद्धांत (Theory) के आधार पर, हम आसानी से समझ सकते हैं कि: अनन्त सूक्ष्म और स्थूल पर्तों वाली प्रकृति की उत्पत्ति कैसे हुई?

> **ज्यों-ज्यों स्थूलता बढ़ेगी; एक अवस्था अवश्य आएगी, जब सूक्ष्म जगत का सबसे शक्तिशाली अस्तित्व मन, इस स्थूल क्षेत्र में विचरण करने में असमर्थ होगा। यह असमर्थता ही सामर्थ्य होने के विचार को जन्म देगा। यह विचार ब्रह्मतत्व के गुणों से तर-बतर होने के कारण अन्तःकरण के दूसरे अस्तितवों को जन्म देगा: जैसे बुद्धि, पांच ज्ञानेन्द्रियों, स्नायु संस्थान इत्यादि।**

स्थूलता धीरे-धीरे जब और आगे बढ़ेगी : तब स्नायु संस्थान से स्थूल नसें; और फिर स्थूल शरीर का जन्म भी हो जाएगा। इस विकास के सिद्धांत (Theory) के आधार पर, प्राणियों में विकास का कारण समझाया गया। लेकिन शास्त्रों का ज्ञान रखने वाले हमें यह भी बताते हैं: कि प्रकृति में 84 लाख (अनन्त) जड़ें विद्यमान हैं। ज्यों-ज्यों निर्गुण-निराकार ब्रह की शक्ति का प्रवेश इन जड़ों में

हुआ: सृष्टि के स्थूल क्षेत्र (अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों का क्षेत्र), तरह-तरह के स्थूल और सूक्ष्म शक्तियों तथा निर्जीव वस्तुओं से भर गया।

बड़ी सृष्टि चलने का आधार क्या है?

इसका ज्ञान ही मनुष्य को बताएगा कि: सर्वश्रेष्ठ कर्म क्या है? और वह इस सृष्टि के पालन-पोषण में अपना योगदान कहां तक दे सकता है?

श्रीमद् भगवद गीता के अध्याय 3 श्लोक 10 में यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि :

विधि ने प्रजा के साथ पहिले यज्ञ को रच के कहा।
पूरी करे यह सब मनोरथ, वृद्धि हो इस से मद्धा॥

सृष्टि के आदिकाल में ही सृष्टि की रचना के साथ-साथ ब्रह्मा ने एक यज्ञ की रचना की। जिससे कि सृष्टि का पालन-पोषण हो सके। इस यज्ञ के संचालन के लिए न तो किसी क्रिया की आवश्यकता है, और न किसी स्थूल वस्तु की। ऐसे यज्ञ को, जिसमें क्रिया या स्थूल वस्तु की मदद नहीं ली जाती: ज्ञान-यज्ञ कहा गया है।

इस यज्ञ का संचालन मात्र प्रयासहीनता (Meditation) के अभ्यास द्वारा होता है। हम सभी को यह अहसास है कि शरीर में जब तक प्राण हैं: तब तक एक शक्ति जिसे जीवात्मा कहते हैं; व्याप्त रहती है। जीवात्मा ही शरीर धारण करती है; और तभी किसी प्राणी का जन्म होता है। जब जीवात्मा शरीर छोड़ती है; हम कहते हैं: कि प्राणी की मृत्यु हो गई।

इन जीवात्माओं को अपनी कुछ आवश्यकताएं होती हैं। और वे इन आवश्यकताओं को बिना शरीर धारण किए पूरी करने में असमर्थ होती हैं। इसीलिए प्रकृति में ऐसी जीवात्माओं के शरीर धारण करने का प्रावधान है। जब ये जीवात्माएं शरीर धारण कर लेती हैं: तब अलग-अलग युगों में उस समय के समाज में प्रचलित आध्यात्म के ज्ञान के आधार पर, मात्र मनुष्य का शरीर धारण करने वाली ज्यादा से ज्यादा जीवात्माओं को, वह रास्ता मिल जाता है: जिस पर चलने से उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन ज्यादा आसानी से मिल जायें, लेकिन इसके साथ-साथ उनकी आवश्यकताएं भी कम होने लगें। इसका अर्थ यही निकला कि जो भी साधक ऐसा रास्ता पा जाएगा; और बहुत लम्बे समय तक साधना में लिप्त रहेगा: उसके पास किसी भी आवश्यकता को पूर्ण करने के साधनों की कमी नहीं होगी। लेकिन इसके साथ-साथ उसे अपने साधनों के इस्तेमाल की आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होगी। ऐसे रास्ते को हम जीवात्मा के उत्थान का रास्ता कहते हैं; और यही रास्ता ऊपर बताए हुए आदिकाल में ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न किए हुए: ज्ञान-यज्ञ के संचालन द्वारा मिल जाता है।

ब्रह्मतत्व सच्चिदानन्द है। चित् का अर्थ है : चेतना। मन और ब्रह्मतत्व के सम्पर्क में मन को एक विशेष सुख प्राप्त होता है और हम इसी को आनन्द (Bliss) कहते हैं। सत् के विषय में अलग-अलग व्यक्तियों की व्याख्या अलग-अलग है। कुछ लेखकों ने कहा है कि प्राणी के पास मन, बुद्धि, शरीर तीन चीजें हैं।

मन को आनन्द चाहिए। बुद्धि को, चेतना द्वारा ज्ञान मिलता है। अत: गहरे आराम (Meditation) के बाद

शरीर को जो शक्ति मिलती है: वही सत् है।

जब प्राणी गहरे आराम के बाद क्रिया में आता है: तब सत् का कुछ अंश वायुमण्डल में आ जाता है। कुछ लोगों ने यह भी कहा कि: सत् तो न बदलने वाला है। लेखक का कहना है कि न बदलने वाला भी; बदलने वाले जगत में बदलने वाले रूप में ही प्रगट होगा। **शरीर मे जो जीवात्मा विराजमान है: उसके पास केवल दो रास्ते हैं। इसकी अवस्था नित्य बदलनी पड़ेगी; चाहे वह उत्थान की ओर अग्रसर हो, या पतन की ओर।** अर्थात् जीवात्मा की अवस्था के पास बदलने के लिए केवल दो दिशाएं हैं: उत्थान के रास्ते पर निश्चित रूप से उत्थान की शक्ति (Evolutionary Force) काम कर रही है।

यह उत्थान की शक्ति ही सत् है।

उत्थान या पतन में से: कोई एक हर प्राणी में होगी। अत: हर समाज में प्राणियों की सामूहिक चेतना के पास मात्र दो दिशाएं होंगी: या तो सामूहिक चेतना में उत्थान की शक्ति होगी; या पतन की।

उत्थान की शक्ति के माध्यम से ही: यह पूरी सृष्टि चलती है। यह जीवन का एक बहुत बड़ा सत्य है। लेकिन इस सत्य को महसूस करने के लिए: मनुष्य को सूक्ष्मदर्शिता की ओर अग्रसर होना पड़ता है।

वे प्राणी जो मात्र निद्रा, स्वप्न और जागृत अवस्था में रहते हैं: स्थूलदर्शी होते हैं; और यही कारण है; कि वे जीवन का सत्य देखने में असमर्थ हैं। दूसरे शब्दों में जीवन की गलतफहमियों अर्थात् माया (Ignorance) से ग्रस्त हैं। उदाहरण के लिए आज के

संसार में ज्यादातर व्यक्तियों को यह दिखायी पड़ता है कि: यदि बच्चा पैदा हुआ है; तो आयु बढ़ने के साथ, वह अपने मन को अलग-अलग विषयों के क्षेत्र में विचरण कराकर बुद्धि का विकास करे और इस विकसित बुद्धि की मदद से ज्यादा से ज्यादा प्रयास करके अपने जीवन को सफल बनाए। आज का समाज इसी को सही जीवन समझता है।

लेकिन सत्य यह है कि सारी सृष्टि को चलाने वाली तो सृष्टि की सामूहिक चेतना की उत्थान शक्ति है।

इस सत्य का छोटा रूप तो यह होगा: कि मात्र अपनी चेतना को उत्थान की दिशा देकर, कोई भी व्यक्ति अपने जीवन को सुखमय बनाने में सफल हो जाएगा; और मात्र इस शक्ति द्वारा अपने परिवार का संचालन करने में समर्थ हो जाएगा। इस सिद्धांत पर चलने को सत्य की राह पर चलना कहते हैं; और सत्य द्वारा जीवन निर्वाह का यही अर्थ है। इस लिए सतयुग में वायु-मण्डल में सत्; रज और तम पर हावी होता था। अर्थात् सतयुग में, बचपन से ही बच्चों को उनके माँ-बाप अपने कुल-गुरुओं के साथ: सत्य की राह पर चलने के अभ्यास हेतु बाहर भेज देते थे; जिससे कि उनके बच्चों के जीवन में उत्थान की शक्ति की कमी न रहे। 25 वर्ष तक उत्थान की शक्ति बढ़ाने के बाद ही वे अपने गृहस्थ जीवन (दूसरे शब्दों में सांसारिक जीवन) में वापस आते थे। जिससे कि इस दृष्टि को चलाने में; अर्थात् समाज के अलग-अलग प्राणियों को ज्यादा सुख देने में समर्थ हो सकें।

उत्थान की शक्ति बढ़ने के रास्ते पर, मनुष्य वातावरण में भी सत् फैलाने में सफल होता है; और वातावरण

के इस सत् से इन्द्रिय जगत् के सारे देवताओं को भी सत् की शक्ति मिलती है, जिससे देवताओं की शक्ति में वृद्धि होती है।

इसीलिए गीता के अध्याय 3, श्लोक 11-12 में बताया गया है

मुख से करो तुम तुष्ट सुरमण, वे करें तुम को सदा।
ऐसे प्रस्पर तुष्ट हो, कल्याण पाओ सर्वदा॥
मख तृप्त हो, सुर कामना पूरी करेंगे नित्य ही।
उनका दिया उनको न दे, जो भोगता तस्कर वही॥

कि यदि मनुष्य देवताओं की उन्नति करते हुए अपनी उन्नति का रास्ता पकड़े: तो निश्चय ही ये देवतागण उनके प्रिय भोगों को बिना उनके मांगे, देंगे। इस तरह से औा देवताओं के बीच सामंजस्य बढ़ेगा, यह सृष्टि सुचारूप से चलेगी।

आन्तरिक चेतना की पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी अवस्थाओं में, या यह कहें कि चेतना की उच्च अवस्थाओं में उत्थान की शक्ति बढ़ती ही चली जाती है। इन अवस्थाओं की प्राप्ति के रास्ते को निष्काम कर्म की, अलग-अलग सिद्धि की अवस्थाएं बताया। जिस समाज में अधिकतर मनुष्य उत्थान की शक्ति को पाने जीवन निर्वाह का रास्ता समझने लगते हैं; वह समाज सत्युग का समाज कहलाता है।

सभी आध्यात्मिक पुरुषों ने उत्थान की अन्तिम अवस्था को अद्वैत चेतना कहा है। इस अवस्था में मनुष्य की महसूसियत की वह अवस्था है: जब वह मात्र अद्वैत को हर क्रिया में कर्त्ता के रूप में देखने में समर्थ हो जाता है।

चेतना के विकास में रत होने वाला साधक धीरे-धीरे इस सूक्ष्मदर्शी अवस्था की ओर अग्रसर होता है। लेकिन ज्यों-ज्यों समाज की निष्ठा इस उत्थान की शक्ति पर कम होती है; और बुद्धि के विकास पर बढ़ती है, जिसका आधार मन का विचरण विषयों में होता है: त्यों-त्यों समाज में स्थूलदर्शिता बढ़ने लगती है; और धीरे- धीरे उसकी निष्ठा सत् पर से हटकर, बुद्धि की मदद से कड़ी मेहनत, अर्थात् सामूहिक चेतना ही समाज के पतन का कारण बनती है। और समाज सत्युग से त्रेता, द्वापर और फिर कलियुग की ओर अग्रसर होता है: मनुष्य की निष्ठा गीता के इस सिद्धांत पर से हट जाती है कि:

देवताओं की उन्नति करते हुए अपनी उन्नति करना ही: सत्य की राह है।

इसी कारण कलियुग में समाज के अधिकतर लोग सीधे अपना उत्थान करना चाहते हैं। देवताओं की उन्नति करके अपना उत्थान नहीं करना चाहते। और ऐसे व्यक्तियों के कर्म देवताओं; जैसे-सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल आदि की अवनति, अर्थात् कड़ी से कड़ी गर्मी, आंधियां, बड़े से बड़े भूचाल; प्राणियों के बीच में जल सेवन के लिए जल की कमी और सांस लेने के लिए शुद्ध वायु की कमी का सामना करना पड़ता है। ऐसे समाज में अग्नि प्राणियों की रोटी पकाने के साथ साथ उनके घरों और खेतों को जलाकर, उनके कर्मों की प्रतिक्रिया के रूप में उन्हें दुख पहुंचाने लगती है।

जब ऐसी अवस्थाएं समाज में बढ़ती हैं: तब मनुष्य की निष्ठा अपनी बुद्धि पर से हटती है और अलौकिक शक्ति को ढूंढने

की ओर मुड़ती है। मात्र अलौकिक शक्तियों की मदद की इच्छा से सम्बन्धित विचारों में; जितनी ब्रह्म की शक्ति का वास होता है:

> **वह शक्ति उस समाज के मनुष्य को धीरे-धीरे कुछ अंधविश्वासी, सात्विक कर्म और उपासना के ज्ञान के आधार पर: ब्रह्म-ज्ञान और ब्रह्म की शक्ति की ओर मोड़ती है।**

धीरे-धीरे समाज में फिर से आध्यात्मिक शिक्षा के विकास की इच्छा जागृत होती है; और इस शिक्षा के आधार पर मनुष्य में फिर उत्थान की शक्ति और निष्ठा जागती है। जिससे मनुष्य कलियुग से सतयुग की ओर मुड़ने लगता है।

इस तरह इस लेख में हम देखने में समर्थ हैं: कि सृष्टि का संचालन (दूसरे शब्दों में सत्युग, त्रेता, द्वापर, कलियुग के चक्र), मात्र जीवात्माओं के उत्थान और पतन की शक्ति के माध्यम से किस प्रकार, हमेशा चलता रहा है? न मालूम ऐसे कितने चक्र पूरे हो चुके? और कितने पूरे होंगे? क्यों-कि लेखक के सम्पर्क में रहने वाले ज्यादातर साधक यह समझते हैं: कि अनन्त का खेल, जीवन के हर क्षेत्र में अनन्त ही रहा है; और अनन्त ही रहेगा। ❑

चेतना की शान्त स्थिति ही : भावातीत स्थिति

✍ महर्षि श्री महेश योगी

जैसे-जैसे चेतना भाव की सूक्ष्मता में जाती है- बाहर का सब भूलता जाता है। अर्थात् अनुभवकर्ता-ज्ञानकर्ता का कर्त्तापन समाप्त

होता जाता है; और जब सब समाप्त हो जाता है, तब ज्ञानकर्त्ता अपने आप में आ जाता है, तब निर्भय हो जाता है-

> **ऋग्वेद के शब्द ''अग्नि मीले'': मैं उसकी प्रार्थना करता हूं, मैं उसकी वन्दना करता हूं, मैं उससे एक होता हूं, मैं उसमें समर्पित होता हूं। उस अव्यक्त शुद्ध चेतना में: मैं अपने को एक पाता हूं।**

जिसका स्पन्दन सहज-स्वाभाविक स्पन्दन है, जिसका श्वास वेद है; और जिसने उस वेद से सारे ब्रह्माण्ड को उत्पन्न किया है: उस निर्मम को मम विहीनता को व्यापक सत्ता में एकदेशीय ममत्त्व नहीं होता। **वह सार्वभौम सत्ता है। उस सार्वभौम सत्ता को** ''तूमहं वन्दे''-मैं उससे एक होता हूं। यह भावातीत ध्यान-शैली का स्वरूप है कि चंचलता शान्त होते-होते शान्त हो गयी। इसकी महिमा अनन्त है।

जिस भी भारतीय वायू मण्डल में कोई भी बात होगी, वह 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की होगी। यही चेतना की शान्त स्थिति-भावातीत स्थिति है। इसी को चतुर्थ चेतना कहते हैं-जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति के परे शुद्ध शान्त। बाहर से चेतना शान्त हो गयी: लेकिन भीतर से जाग बनी हुई है। ऐसी शान्त नहीं हुई: कि भीतर से भी सो गयी, बाहर से भी सो गयी; यह तो गाढ़ी नींद हो गयी। अब क्या हो गया? भावातीत ध्यान से भावातीत चेतना, भीतर से जाग बनी हुई है-भावातीत चेतना (Transcendental Conciousness): अर्थात् चतुर्थ चेतना।

रोज शाम-सवेरे ध्यान का अभ्यास करते-करते फिर

क्या होता है? भीतर की जागृति बनी रहती है। जब भीतर की जागृति बाहर आने पर भी बनी रहती है: तब उसको कहते हैं: तुरीयातीत चेतना।

मन भीतर गया अर्थात् मन की चंचलता शान्त हुई और भीतर की चेतना जागृत हुई: तब तुरीय चेतना-चतुर्थ चेतना आयी। अब यह मन जब चंचल हुआ: तब भी वह चेतना बनी रही; उसका नाम तुरीयातीत चेतना है। यह तुरीया को भी पार कर गयी। जागृत-स्वप्न-सुषुप्ति को पार करके: तुरीया चेतना आयाी।

तुरीया में क्या हुआ ?

सारा व्यवहार समाप्त हो गया। बाहर का कुछ याद नहीं: भीतर से जागृत है-एक अखण्ड सत्तास्वरूप होकर स्थित है। उस चेतना की प्रशान्त, अखण्ड, अव्यक्त सत्ता में कोई भी क्रिया नहीं। अर्थात् अभी मस्तिष्क के तन्तुओं में जो क्रिया करने की शक्ति है: उसने अभी उतने प्रखर रूप से उस शान्त चेतना को अपनाया नहीं है। तो क्या होता है? बाहर की सारी क्रिया समाप्त हो गयी, भीतर से पूर्ण रूप से जाग बनी है।

जब जागते हैं: तब भी वह भीतर की अखण्ड शुद्ध चेतना मिटती नहीं; अर्थात् यह तुरीया चेतना जागृत के साथ आ गयी। जब जागृत और तुरीया इकट्ठी होंगी, तो स्वप्न और तुरीया भी इकट्ठी होंगी: तब फिर सुषुप्ति और तुरीया भी इकट्ठी होंगी। गाढ़ी नींद भी बनी रहेगी; और भीतर से जाग भी बनी रहेगी। दोनों अवस्थाएं एक साथ रहेंगी: नींद के द्रष्टा रहेंगे। स्वप्न

देखते हुए जागते रहेंगे: हम देखेंगे कि स्वप्न देख रहे हैं। भीतर से एक चेतना है: जो स्वप्न की चेतना से प्रभावित नहीं है।

एक भीतर की शान्त स्तब्ध चेतना है; जो सारे जागृत के व्यवहार को देख रही है-पूर्ण क्रियाशीलता का द्रष्टा बन कर, एकरसरूप होकर वह स्थित है। जब जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों चेतनाएं; तुरीया की चेतना के साथ आती-जाती हैं: तब यह चेतना बराबर बनी रहती है। सवेरे से लेकर सबेरे तक: चौबीसों घण्टे जब वह शुद्ध, स्वत: प्रमाणित चेतना, स्वयंभू चेतना, सर्वव्यापक-अखण्ड चेतन-सत्ता जब स्थायी हो जाती है: तब उसी चेतना के प्रांगण में जागृति आती है, स्वप्न आती है, सुषुप्ति आती है। ये तीनों चेतनाएं आती-जाती रहती हैं: लेकिन वह विशुद्ध चेतना की अखण्डता बनी रहती है। उसे तुरीयातीत चेतना कहते हैं।

तुरीया चेतना और जागृति: दोनों चेतनाएं साथ-साथ रहें, यानी चेतना की शान्त और क्रियाशील स्थिति: दोनों स्थितियां बनी रहती हैं। इसी को कहते हैं: ''जीवनमुक्ति'' की चेतना। जनक आदि को कहते हैं-वे विदेह थे, अर्थात् शरीर रहते हुए; एकदेशीय रहते हुए भी व्यापक थे। व्यष्टि की चेतना रहते हुए भी उनकी समष्टि की चेतना रहती थी। जागृति की चेतना रहते हुए भी: उनकी समाधि की चेतना बनी रहती थी। द्रष्टा रहते थे: भीतर से; कर्त्ता रहते थे: ऊपर से। तब इसको कहते हैं: जीवनमुक्ति की चेतना। अर्थात् जीवन भी है और मुक्ति भी है। जीवन का लक्षण है: क्रिया; मुक्ति का लक्षण है: स्तब्धता। स्वत: स्वरूपता तो है; जीवन और मुक्ति-तुरीयातीत स्थिति अर्थात् तुरीय स्थिति जागृत-स्वप्न और सुषुप्ति की स्थिति के

साथ-साथ आ जाये। बराबर भवातीत ध्यान का अभ्यास करके: एक बार तुरीया चेतना में जाते हैं। मन की क्रिया शान्त होते-होते तुरीय में चले गये। न कोई विचार है, न मन्त्र है: भीतर की जाग बनी हुई है। यह तो तुरिय हुई।

सबेरे-शाम ध्यान करेंगे-तुरीय में जायेंगे अर्थात् समाधि होगी- ध्यान की क्रिया समाप्त हो जायेगी। भीतर से जागते रहेंगे; और ऐसा दो-चार बार, सबेरे-शाम होते-होते जब काम करते हैं: तब भीतर की शान्ति मिटती नहीं। यही तुरीयातीत चेतना के लक्षण हैं।

इसमें क्या होता है? चेतना दुहरी होती है-एक तो शान्ति की चेतना और एक क्रिया की चेतना। दोनों चेतना इक्ट्ठी होती है। इसी से उसे "Cosmic Cosciouness" कहते हैं, अर्थात् एक व्यापक रूप है, एक व्यष्टि रूप है। छोटा भी है, महान् भी है, लहर भी है, और समुद्र भी है। इसी को तुरीयातीत चेतना कहते हैं।

इसी को अनुभव के आधार पर नाम दिया: ''हंसावस्था''। अपने यहां हंस-परमहंस ये जो अच्छे-अच्छे महात्माओं की उपाधियां होती हैं, वे चेतना की उपाधियां होती हैं।

> **तो हंसावस्था-कहते हैं कि हंस दूध-पानी मिला हो तो दूध पी लेगा पानी छोड़ देगा। उसमें दूध और पानी के विश्लेषण करने का सामर्थ्य है। यथार्थता को देखते हैं तो तुरीयातीत चेतना में हंस अवस्था होती है।**

तुरीयातीत चेतना में क्रियाशीलता और निष्क्रियता दो चेतना के स्तर हुए। एक समुद्र की शान्त सतह और उस शान्त सतह में हिलोर। दोनों स्थितियां हैं: एक व्यक्तिगत हिलोरों की और एक

समष्टिगत शान्त स्थिति की चेतना के दोनों क्षेत्रों का अनुभव होते-होते एक बार यह मालूम पड़ा; कि यह शुद्ध शान्त सतह भी पानी है और यह लहर भी पानी है: तो लहर और लहरी में कोई भेद नहीं है। तरंग ही समुद्र है, समुद्र ही तरंग है तो फिर दोनों का भेद मिट गया। पानी और दूध जो एक बार अलग-अलग थे, वह पानी भी अब दूध बन गया। पानी भी जब दूध बन गया, तब उस एकत्व को चेतना कह देते हैं-''ब्राह्मी चेतना।''

चेतना के सात स्तर

(Seven Standards of Consciousness)

चेतना के जो 7 स्तर हैं: जब उनका विवेचन करते हैं: तब ज्ञात होता है कि चेतना के जितने भी स्तर हैं: वे सब चेतना की शान्त स्थिति के ही तरंगित रूप हैं। उस शान्त चेतना का सागर तरंगित हुआ, लहराया; और एक अलग ढ़ंग से लहराया: तो उसका अलग नाम हुआ। जब एकत्व का अनुभव हुआ: तब निर्गुण-निराकार विशुद्ध चेतन सत्ता सारे विश्व रूप में प्रगट हुई है; और जब अपनी शुद्ध सनातन सत्ता से एकत्व का बोध प्रस्फुटित हुआ: तब फिर यह हुआ, कि मैं ही सब कुछ हूं। मेरे सिवाय और कुछ नहीं है।

''अहं ब्रह्मास्मि सर्वंखल्विएं ब्रह्, नेह नानास्ति किंचन''। सारे ब्रह्माण्ड में एक मात्र स्वात्म-सत्ता ही विस्तृत है। यह अनुभव की वास्मविकता से सम्बन्धित है। चेतना का प्रत्येक क्षेत्र स्वानुभूति का क्षेत्र है-ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में स्वानुभूति का ही वर्णन है- विश्लेषण है: उसका बौद्धिक पर्यवेक्षण है।

परमात्मा और परमात्मा के अंश में अन्तर केवल उनकी अलग-अलग जागृति के कारण है। शास्त्र में सम्पूर्ण जागृति (चेतना) को सात भागों में बांट दिया। आत्मज्ञान का लक्ष्य होता है - पूर्ण जागृति की प्राप्ति। जागृति में अनुभव करने की शक्ति है : अनुभव को ही ज्ञान कहते हैं। दूसरे शब्दों में जागृति में ही ज्ञान है।

(क) निद्रा सबसे छोटी जागृति है। क्योंकि निद्रा टूटने के बाद हमें निद्रा का ज्ञान हो जाता है, कि हमें कैसी निद्रा आई। यदि यह ज्ञान होना असंभव होता, तो निद्रा जागृति नहीं होती।

(ख) दूसरी जागृति (Consciousness) स्वप्न है। जो हमें अनुभव कराती है, कि स्वप्न के समय मन हमारे आन्तरिक क्षेत्र के किन अंकित भावों में भ्रमण कर रहा था।

(ग) तीसरी जागृति हमें इन्द्रिय और बुद्धिजगत में भ्रमणों का ज्ञान कराती है।

(घ) भावातीत चेतना (Transcendental Consciousness): चौथी जागृति हमें, इन्द्रिय और बुद्धिजगत को छोड़कर, मन आन्तरिक क्षेत्र के किन भागों में भ्रमण करता है : इसका ज्ञान कराती है।

(ङ) **ब्राह्मी चेतना (Cosmic Consciousness) :** आन्तरिक क्षेत्र में भ्रमण करके मन योगशक्ति लेकर बाहर आये और इन्द्रियजगत में कर्म करे। इससे योग की शक्ति इन्द्रियों में और इन्द्रियजगत के क्षेत्र में पिरोएगी। इससे

एक नई अनुभूति प्राप्त होती है कि हमारी इच्छाओं की पूर्ति थकावट से भर देने वाली, मेहनत से भरे कर्मों द्वारा नहीं होती। बल्कि योगशक्ति इन्द्रियजगत में पिरोने से होगी। **यहां एक नई अनुभूति उत्पन्न होती है; और यह पांचवें स्तर की अनुभूति है।**

इन अनुभूतियों के लिये मन को केवल आन्तरिक क्षेत्र में भ्रमण करने का अभ्यास करना है। बढ़ते हुए अभ्यास के साथ, हमें अनुभव होने लगता है; कि मन की समस्त इच्छाओं की पूर्ति, मात्र मन में पिरोयी हुई इच्छाशक्ति है; और इन्द्रियजगत के कर्म नहीं।

(च) **ईश्वरीय चेतना (God Consciouness) : छठी अनुभूति की प्राप्ति तक** मनुष्य अपनी हर इच्छा की पूर्ति कर सकता है, परन्तु केवल समय आने पर।

(छ) **अद्वैत चेतना (Unity Consciouness) :** यदि वह साधना में आगे बढ़ता ही जायेगा, **तो सातवीं अनुभूति यह होगी:** कि अब वह अपनी इच्छाओं की तत्काल पूर्ति करने योग्य हो गया है, अर्थात् समय पर भी विजय प्राप्त कर ली है। ऐसा मनुष्य अपने को ब्रह्मस्वरूप अथवा परमात्मास्वरूप मानने के लिए बाध्य हो जाता है।

ऊपर बताये हुए अनुभव तब प्राप्त होते हैं: जब अनुभवशक्ति बढ़ती ही चली जाती है। अनुभवशक्ति को शास्त्रों में चेतना कहा है। इस प्रकार से पूर्णचेतना को सात चेतनाओं में बांट दिया गया है। ❑

एक ही साधे : सब सधे

प्रस्तुति : इंजीनियर पी. के. चौधरी

जीवन को साधने के दो रास्ते हैं :

1. पहला संसार के अनन्त पहलुओं को सफल बनावें।
2. दूसरा रास्ता यह है; कि हम मात्र पराजगत को साधें। इस साधना के साथ बाहर जगत के भी कुछ कर्म होते रहें।

प्राचीन आध्यात्मिक कहावत के अनुसार :-

एकहि साधे सब सधे, सब साधे सब जाए।
जो तू सेवे मूल को, फूले फले अघाय॥

अर्थात् पराजगत को साधने से जीवन अवश्य सध जाएगा। उपरोक्त कहावत मात्र शरीर धारण करने वाले जीवों के लिए कही गयी है। शरीर के बाहर का भाग इन्द्रिय जगत के नाम से प्रसिद्ध है; और अन्दर के भाग को पराजगत के नाम से।

जहां ''मैं'' है: वहीं मेरी कामना है। कर्म करें परन्तु फल की इचछा न रखें। साधारण मनुष्य को तो यह संभव ही नहीं दिखता। गीता में तो मात्र निष्काम कर्म ही सर्वश्रेष्ठ कर्म कहा गया है। भले ही साधारण मनुष्य को ऐसा लगता है: कि जीवन में प्रयासपूर्ण कर्मों द्वारा जीवन को संवारा जा सकता है। परन्तु अध्यात्म जगत के व्यक्तियों ने तो इसे भ्रमित करने वाला सिद्धांत अर्थात् ''माया'' कहा है।

सन्त तुलसी दास जी ने भी निम्न चौपई द्वारा इसकी पुष्टि की है:-

''गो गोचर जहँ लगि मन जाई,
सो सब माया जानों भाई।

उपरोक्त कहावत की पंक्ति: ''सब साधे सब जाए'' भी यही सिद्ध करती है। अत: हमें आन्तरिक जगत में कर्म करके बाहर का जीवन संवारने के रास्ते पर चलना चाहिए। पराजगत में विचरण तभी संभव है: जब बुद्धि और इन्द्रियां क्रियाशील न हों। आन्तरिक जगत में मन का विचरण ही: ईश्वर का ध्यान है। इस कर्म में सिद्ध होने का अर्थ है; कि हम जागती हुई अवस्था में, कम से कम समय में ज्यादा से ज्यादा सूक्ष्म पर्तों में विचरण करने योग्य हो जाएं। मात्र इस एक कर्म को साधने से; पूरा जीवन सध जाता है। पराक्षेत्र में मन का विचरण: धीरे-धीरे समय बीतने के साथ साथ, मन को शान्त क्षेत्र में ले जाता है। अभ्यास द्वारा धीरे-धीरे शान्ति की चरम सीमा तक पहुंच कर; इन्द्रिय जगत में वापस आएं और तब इन्द्रिय जगत के कर्म करें।

शास्त्रों के अनुसार-शिवम् शान्तम: अर्थात् ऐसा अभ्यास करने वाला ''मैं'' धीरे-धीरे शिव की शक्ति प्राप्त कर रहा है। अभ्यास के आधार पर धीरे-धीरे वह इन्द्रिय जगत की क्रियाओं में भी शान्त रहने लगता है। शिव की शक्ति को इन्द्रिय जगत में उतारने की यही कला है। और इस कला के द्वारा इन्द्रिय जगत के सारे कर्म सुखदायी बनाए जा सकते हैं।

सिद्ध होने के लिए उसे इस कार्य को नित्य कर्म बनाना है। ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़ेगा: निश्चित रूप से जीवन सधने लगेगा। पराकर्मों में सिद्ध होना या शान्ति की

चरम सीमा की ओर बढ़ना ही; 'एक' की साधना है। सृष्टि की समस्त अनुभूतियां मात्र मन करता है।

आन्तरिक जगत दो भागों में विभाजित हो जाता है :-

1. पराजगत या भावों का जगत और
2. परा से पराजगत; अर्थात् भावातीत जगत।

कोई क्षण था: जब हमारा मन भावों में नहीं था। इन्द्रियों में भी नहीं था। जहां भी था: वही भावातीत है। भावातीत क्षेत्र निर्गुण निराकार है। क्योंकि सारे आकार और गुणों का आधार; मात्र भाव है। अनन्त के क्षेत्र में सीमाओं का कोई अर्थ नहीं है। यह सत्य हमें ज्ञान देता है कि भावातीत क्षेत्र निर्गुण-निराकार तत्व का समुद्र है। यही ब्रह्म है और इस समुद्र का हर तत्व ब्रह्मतत्व है।

मन जब इस समुद्र में जाता है: तब बुद्धि मन से अलग हो जाती है। क्योंकि पराजगत बुद्धि से परे है। मन और बुद्धि अलग होते ही: भावों के क्षेत्र से फिसल कर भावातीत हो जाते हैं। ये ऐसे ही होता है: जैसे एक मनुष्य स्नान हेतु डुबकी लगाता है; और स्नान करके बाहर आता है। इसी प्रकार से मन, बुद्धि की दुनिया छोड़ते ही: भावातीत हो जाता है। और ब्रह्मतत्व के समुद्र में स्नान करके भावों के क्षेत्र में वापस आता है।

प्राकृतिक प्रावधान के आधार पर मन का यह चक्र प्राकृतिक यज्ञ है: जो जीवन को साधता है। पराकर्म से पराचेतना जागृत होगीं इस चेतना में ही पराज्ञान

होगा। वह जीवन को पूर्ण रूप से संवारने में भी सिद्ध होगा।

जो भी आन्तरिक चेतना जागृति का रासता पकड़ता है, या निरंतर अपने में, आनन्द उभारने का रास्ता पकड़ता है, या पराकर्मों में सिद्ध 'होनी' का रास्ता पकड़ता है; वह अपने आपको होनी: अर्थात् कृष्ण पर समर्पित होता हैं। श्रीमद् भगवद्‌गीता के अनुसार उसका हर कार्य स्वयं कृष्ण करेंगे। होनी की शक्ति करेगी। होनी की शक्ति का नियंत्रण हमारी इन्द्रियों पर बुद्धि से भी अधिक होगा।

'होनी' की शक्ति देवताओं के नियंत्रण में ही कार्यरत होती है। ऊंची से ऊंची चेतना में पराकर्म ही सहायक होगा। हमें केवल पराकर्मों में सिद्ध होना है; और जीवन स्वयं पूर्ण रूप से संवर जाना है। ❑

परा क्षेत्र में परमात्मा का अनुभव

प्रस्तुति : श्री गंगाधर बंसल (9416041346)

जो भीतर आत्मा है, वही पहले से ही तुम हो। केवल उसे देखना आरम्भ करो। प्यास लगने पर पीना आरम्भ कर दो। दु:ख सहने का अभ्यास करने और समय नष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं है। **''जीवन संघर्ष है'' - 'यह वही लोग कहते हैं,' जो यह नहीं जानते कि जीवन कैसे जीना चाहिए। यह रोग असाध्य है - यह वही कहते हैं, जो उसका निदान नहीं जानते। परन्तु दूसरों के लिए यह साध्य है। जीवन कैसा होना चाहिए ? इसी के अज्ञान से संसार में तनाव, दु:ख और कष्ट फैले हुए हैं।** बैंक से सम्बन्ध छूट गया है, इसीलिए बाजार में दु:ख और तनाव का

अनुभव हो रहा है। बाहरी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, अपने भीतर सत्-चित्-आनन्द के क्षेत्र से सम्बन्ध जोड़ना, जीवन का पहला कार्य है। दिन आरम्भ होने पर, कोई काम आरम्भ करने से पहले; यही करना चाहिए। तभी काम सफल और सबल होंगे और हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति, सरलता के साथ होगी। प्रकृति के नियम हमारे अनुकूल रहेंगे।

जीवन की भीतरी (आध्यात्मिक) और बाहरी (सांसारिक) प्रतिभाओं का एक साथ अनुभव करना ही, जीवन का पूरा पूरा उपयोग है। ध्यान एक क्रिया है, जो सबके लिए सुलभ है। भीतरी और बाहरी जीवन का यह सन्देश नया नहीं है। बाईबिल में भी कहा है –

"Seek ye first the kingdom of heaven and his righteousness and all other things shall be added unto thee."

''पहले परमात्मा का राज्य प्राप्त करो। तुम्हें अन्य सभी वस्तुओं की उपलब्धि करा दी जायेगी।''

भीतरी आध्यात्मिक जीवन और उससे समृद्ध किया हुआ बाहर का व्यावहारिक जीवन, का यही पुराना संदेश है। बिना अपवाद के प्रत्येक मनुष्य का अधिकार है कि वह अपनी आन्तरिक एवं बाह्य जीवन की समस्त प्रतिभाओं का उपयोग करे। अपने भीतर परा के क्षेत्र में परमात्मा का अनुभव हो सकता है और यह सरल कैसे है?

1) पहले तो परमात्मा अनन्त प्रतिभाओं से सम्पन्न है।
2) दूसरे उनका सत्-चित्-आनन्द का क्षेत्र सुख एवं आनन्द (Bliss) का स्त्रोत है, और वह अनन्त भण्डार बाहर नहीं-भीतर ही है।

3) तीसरा हमारी वृत्ति सदा स्वभावत: अधिक आनन्द की ओर जीने की है।

अधिक आनन्द अथवा आत्मानन्द के अनुभव के लिए किसी प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती। साधारण तौर पर मन अधिक आनन्द चाहता है। और यदि आनन्द का भण्डार हमारे भीतर हो: तो उसका अनुभव करने में अधिक समय क्यों लगना चाहिए? केवल उसका आनन्द लेना आरम्भ करना चाहिए। सहज बुद्धि से सोचने पर यह कठिन नहीं दिखता।

वह कठिन कैसे हो सकता है? यह ईश्वर का अनन्त आनन्द भण्डार है और हमारे भीतर है, तो उसे बाहर ढूंढने की आवश्यकता नहीं है।

आत्म दर्शन

अपने अन्दर सत्-चित्-आनन्द के परा क्षेत्र में प्रवेश करना एवं व्यवहार के बाहर जाकर सृष्टि की सभी सीमाओं को पार करके सृष्टि कर्ता के क्षेत्र में प्रवेश करना: आत्म प्राप्ति है। ध्यान धीरे- धीरे पदार्थ का प्रभाव कम करने का एक उपाय है। प्रभाव एक दम से नहीं हटाया जा सकता। यही वह क्रिया है; जिससे यदि हम पदार्थ के स्थूल अनुभव से उसके सूक्ष्म अनुभव की क्रिया जान लें- और यदि हम सूक्ष्म से सूक्ष्मतम् स्तर की ओर लगातार जाने की क्रिया जान लें: तो एक स्थान ऐसा आयेगा: जहां वह पदार्थ एक बिन्दु मात्र रह जायेगा। जैसे-जैसे पदार्थ की सत्ता घटती जायेगी, वैसे-वैसे अनुभव कर्ता की सत्ता बढ़ती जायेगी। इस प्रकार होते-होते अन्त में पदार्थ की सत्ता विलीन होकर अनुभव कर्त्ता की ही पूरी सत्ता रह जाती है: यही आत्म-दर्शन है। आत्मा का पूरा शत-प्रतिशत

अनुभव होता है और पदार्थ का बिल्कुल नहीं।

इसलिये आत्म-दर्शन की युक्ति, अभ्यास द्वारा आने वाले पदार्थ के सूक्ष्म स्तरों का अनुभव करने की युक्ति है : सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम स्तरों का अनुभव करने की। यही अनुभव की क्षमता को बढ़ाने का मार्ग है। वस्तु स्थिति यह है: कि नाक-कान-आंख आदि इन्द्रियां केवल स्थूल क्षेत्रों का अनुभव कर सकती हैं। बहुत समय तक स्थूल का अनुभव करते रहने से सूक्ष्म के अनुभव की क्षमता नष्ट हो जाती है। यंत्र उपयोग में नहीं आ रहा है और सूक्ष्मता के अनुभव की योग्यता का उपयोग नहीं हो रहा है। केवल स्थूल क्षेत्रों का उपयोग हो रहा है। जब सूक्ष्मता का अनुभव न होकर सारे समय केवल स्थूल क्षेत्रों का ही अनुभव होता रहता है, तब जीवन रूखा, थका हुआ और तनावपूर्ण हो जाता है।

भावातीत ध्यान, यंत्र में तेल देकर उसके निष्क्रिय पड़े हुए भागों को उपयोग में लाने योग्य बनाकर, अनुभव की क्षमता को सूक्ष्म करने की एक क्रिया है। जिससे अनुभव की क्षमता इस सीमा तक बढ़ जाती है कि अपने भीतर का आनन्द और सर्वव्यापी परमात्मा का प्रकाश हमारे जीवन में शतप्रतिशत आ जाता है। इस प्रकार आत्मा की पूर्णता हमारी चेतना में बनी रहती है और साथ ही व्यावहारिक जगत के अनुभव भी रहते हैं। पहले व्यवहारिक क्षेत्र के अनुभव पत्थर की लकीर के समान स्थायी हुआ करते थे। जो एक बार पड़े, तो मिटाना कठिन होता था। ये अनुभव न केवल गहरी छाप छोड़ जाते थे, वरन् यह छाप अपने आप और गहरी होती जाती थी। जैसे एक तिल का पहाड़ बना दिया जाये। **तिल का पहाड़ बन जाता है और उससे तनाव उत्पन्न होते हैं।**

प्रत्येक कर्म, ज्ञान और अनुभव मन पर गहरी छाप छोड़ते हैं और मन की अपनी सत्ता नहीं रह जाती। वह एक फुटबाल के समान हर अनुभव की ओर दौड़ता रहता है। केवल फुटबाल के समान: जिसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहता। जहां ठोकर लगी पहले यहां, फिर वहां दौड़ी। सारा संसार मनुष्य के साथ फुटबाल खेल रहा है और मनुष्य अस्त-व्यस्त है। यह परिस्थिति उपयुक्त कर्म करने के ज्ञान की कमी के कारण उत्पन्न हुई है।

कर्म की कुशलता की अनभिज्ञता के कारण गीता (2.50) में इसे कर्मसु कौशलम् कहा है। आत्म शक्ति (आनन्द) का भण्डार जितना भीतर उपस्थित होगा, कर्म की कुशलता उतनी ही तीव्र होगी: जो सांसारिक जीवन में सफलता के लिए अनिवार्य है।

स्थाई रूप में अधिक आनन्द प्राप्ति सम्भव

यदि हम तीर को बड़ी शक्ति से आगे फेंकना चाहते हैं, तो उसे धनुष से पीछे की ओर खींचते हैं-खींचते जाते हैं। जो तीर आगे फैंकने का सिद्धान्त नहीं जानते, वे कहेंगे कि आप क्या कर रहे हैं? आपको तीर आगे फैंकना है, पीछे मत खींचिए।

इसी प्रकार अज्ञानी कह सकता है - कि ध्यान करने के लिए हमारे पास समय नहीं है। हमें संसार में कितना काम करना है? इसमें हम क्यों समय खराब करें? हमें बहुत काम करना है। जो बूढ़े लोग हैं, जिन्हें कुछ काम नहीं करना, उन्हें ही ध्यान करना चाहिए। लोग इसलिए ऐसा कहते हैं। क्योंकि वे यह नहीं जानते कि अधिक शक्ति से कार्य कैसे करें? कैसे कार्य में सफल हों? और जीवन में सभी पक्षों का स्थायी रूप से अधिक से अधिक आनन्द कैसे लें?

ध्यान एक विशेष परिस्थिति निर्माण करने की क्रिया है। हम ऐसी परिस्थिति बनाते हैं, जिनमें जीवन के सभी अंग सार्थक होने लगते हैं। तीर को पीछे खींचकर हम ऐसी परिस्थिति बनाते हैं: जिससे उसको आगे जाने के लिए अधिक शक्ति मिलती है। यह एक युक्ति है। उद्देश्य है, तीर को आगे फैंकना। क्रिया है, उसको पीछे खींचना। जहां तक वह खिंचे और स्थिर हो जाये : वहां से छोड़े जाने पर ही तो वह बड़ी शक्ति से आगे जाता है। धनुष की इस स्थिरता की स्थिति में बड़ी शक्ति छिपी हुई है। इस स्थिरता की स्थिति में धनुष है : और यह निष्क्रिय अवस्था क्रियाशीलता की शक्ति से भरी हुई है। इसी प्रकार ध्यान (Meditation) मन को उस निष्क्रियता एवं शक्ति की स्थिति में पहुंचा देता है।

आत्मानन्द की खोज इस प्रकार होगी : परमात्मा सृष्टि का कर्त्ता है, सारी सृष्टि का सृजनकर्ता है, अनन्त शक्ति सामर्थ्य, आनन्द, सुख, सारे अस्तित्व का स्त्रोत है। उस स्त्रोत तक पहुंचो और तुम्हारी इच्छा परमात्मा की इच्छा बन जाएगी। विचार शक्तिशाली बन जायेंगे। जो भी विचार उठेंगे; उनकी पूर्ति होगी-सब कुछ हो सकता है। **परमात्मा के क्षेत्र-सृष्टि के स्त्रोत में जाओ : विचारों के आगे भावातीत क्षेत्र में जाओ। फिर वहां से बाहर आ जाओ। यही एक संदेश आध्यात्मिक पुनरुत्थान आन्दोलन का है। हम वहां क्यों जाना चाहते हैं? क्योंकि हम जीवन को अधिक उत्साहपूर्ण, शक्तिशाली, अधिक शान्तिपूर्ण और हर प्रकार से सार्थक बनाना चाहते हैं।** ❑

ध्यान माला

✍ श्री कुबेर प्रसाद 'गुप्त कबीर'

दोहा-41: पाचन-शोधन-कार्यहित, भोजन और उपवास।
लघु सीमित उपयोग है, इतना ही कर आस॥

भोजन को स्वयं पचाने की बात को ध्यान में रखते हुए: अखण्ड स्वास्थ्य के लिये सन्तुलित आहार करने और आंतों में जमे हुए मल को निकाल कर अखण्ड शक्ति प्राप्त करने की बात अधिकांश लोग; यहां तक कि कुछ आध्यात्मिक शिक्षक कहे जाने वाले लोग भी समझते, कहते, करते और दूसरों से भी कराते हैं। **किन्तु इन दोनों बातों से सीमित और अस्थायी लाभ की आशा तो की जा सकती है। परन्तु अखण्डता (स्वास्थ्य और शक्ति में भी अखण्डता) कभी भी नहीं प्राप्त होती।**

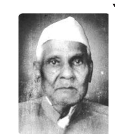

दोहा-42 : तृप्ति हेतु भोजन करें, हित का छोड़ विचार।
वैश्वानर खुद ले रहा, पाचन का सब भार॥

जो व्यक्ति भगवान से शक्ति प्राप्त करने की साधना (ध्यान) नहीं जानता और नहीं करता: वह विवेक-बुद्धि के अभाव में गुण-अवगुण के आधार पर भोजन करता और पाचन-तंत्र को विश्राम देने या सशक्त करने के लिये उपवास भी करता है। लेकिन ऐसा ध्यान न करने वाले (अथवा गलत प्रविधि से ध्यान करने वाले) तथा गीता और रामचरित मानस पर विश्वास न करने वाले ही कहते और करते हैं। क्योंकि गीता (15.14) में स्पष्ट लिखा है-

अहं वैष्वानरो भूत्वा प्रणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

मैं प्राणियों में बस रहा, हो रूप वैश्वानर महा।
पाचन चतुर्विध अन्न, प्राणापान-युत होकर रहा॥

मैं ही सब प्राणियों के शरीर में स्थित रहने वाला प्राण और अपान से संयुक्त वैश्वानर अग्नि रूप हो कर चार प्रकार के अन्न को पचाता हूं।

कुछ लोग भोजन के चार प्रकार में: भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य: ऐसे चार प्रकार के अन्न होते हैं। उनमें जो चबा कर खाया जाता है: वह भक्ष्य है-जैसे रोटी; जो निगला जाता है: वह भोज्य है-जैसे दूध; जो चाटा जाता है: वह 'लेह्य' है-जैसे चटनी और जो चूसा जाता है: वह 'चोष्य है'-जैसे ईख; का नाम लेते हैं।

और कुछ दूसरे लोग, पृथ्वी तत्व प्रधान अनाज और दालें; जल तत्व सब्जियां; अग्नि तत्व प्रधान फल; तथा वायु तत्व प्रधान पत्तियां; इस प्रकार के चार प्रकार के भोजन का नाम लेते हैं।

परन्तु हम चार प्रकार के भोजन का नामकरण चाहे जो भी करें; भगवान तो यह कहता है कि मैं ही वैश्वानर के रूप में सब प्रकार के भोजन पचाता हूं। अर्थात् मनुष्य के पाचन की दृष्टि से भोजन करने की आवश्यकता भ्रमूलक है।

इसी प्रकार रामचरित मानस में भी लिखा है :-

भोजन करिअ तृप्ति हित लागी।
जिमि सो असन पचवै जठरागी॥

भोजन वही (उतना) करें जिससे तृप्ति हो। गुण-दोष के आधार पर भोजन न करें। क्योंकि उसे शरीर में स्थित जठराग्नि (वैश्वानर रूप में भगवान स्वयं) पचाती है। और ऐसा न करना उसका निरादर कहलायेगा। इस दोहे में यही बात कही गई है। ❑

नोट : 1. ध्यान पत्रिका का वार्षिक शुल्क 20/- (बीस) रुपये मनी-आर्डर अथवा कैश : अपने Address एवं Contact No. सहित इस पते पर भेजें :-

-Sh. Rakesh Garg, Keshav Lace Emporium,
Shop No. 91, Lajpat Rai (Rehri) Market, Hisar-125001
Mobile : 098967-89678

2. प्रत्येक रविवार को बुधला सन्त मन्दिर, नज़दीक बस स्टैण्ड, हिसार में पारिवारिक ध्यान सत्संग शाम को 3 बजे से 5 बजे तक होता है। आप सभी सपरिवार सादर आमन्त्रित हैं।

3. ध्यान (Meditation or Self Realization) सम्बन्धी अपने अनुभव, लेख, आलोचना (Comments), अनुभूतियां, प्रश्नोत्तर, शंका-समाधान इत्यादि इस पते पर भेज सकते हैं :-

-सुरेश कुमार गुप्ता
866, सेक्टर 3, अर्बन एस्टेट, रोहतक-124001

PRINTED MATTER